संपादकीय

वाचिक परंपरा और नारी

भारतीय वाचिक-मौखिक परंपरा में नारी जीवन के विविध आयामों का बहुरंगी चित्रण हुआ है। एक ओर नारी जीवन की अनेकमुखी समस्याएँ हैं तो दूसरी ओर, चुनौतियों व संभावनाओं का निर्देश भी हुआ है। लोकगीतों का संबंध लोकजीवन की परंपरागत मान्यताओं की सामूहिक भावाभिव्यक्ति से है। संवेदनाओं का सहज उच्छ्वास नारी हृदय की स्वाभाविक विशेषता है जो अपनी सामूहिकता में किसी भी लोकगीत की अनिवार्य शर्त है। साहित्य की वाचिक-मौखिक परंपरा की अपेक्षा लोक साहित्य में कालधर्मा परिवर्तन भी स्वाभाविकता से दृष्टिगत होता है। लोकगीतों में ठेठ देशी जीवन-शैली वाले समाज की नारी की स्थिति का बोध होता है। जन्म से पहले ही संभावना के आधार पर विवाह तय होने से लेकर अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, संतानहीनता, बाँझपन, वैधव्य, वियोग-व्यथा आदि का सुंदर चित्र उपस्थित हुआ है। छोटे दुधमुँहे बच्चों के विवाह हो जाने की रूढ़ि की अनुगूँज भोजपुरी लोकगीतों में सुनाई देती है -

हमरा कवन दुलहा बियहन चलऽ ले, दूध बिनु ओठ सुखाई ए।
हमरा कवन मुँहवा सासुर चलऽ ली, दूध बिनु ओंठ सुखाई ए।

बाल विवाह की कुप्रथा सदियों तक चलती रही है, जिसका खामियाजा स्त्री और पुरुष दोनों को उठाना पड़ा है -

सबकै त देलअ भोला, अन, धन, सोनवा,
बनवारी हो, हमरा के लरिका भतार।
लरिका भतार लेके सुतली ओसरवा,
बनवारी हो, रहरी में बोलेला सियार।
खोले के ते चोली बन्द खोलेले केवार,
बनवारी हो, जरि गइले एँडी से कपार।

हरियाणवी लोकगीत में भी ऐसे ही स्वर में अनमेल विवाह पर प्रहार किया गया है -

याणे से हमारा ब्याह हुआ जी, छोटे से हमारा ब्याह हुआ जी।
सिर पर गठरिया घास की, गोदी म्हं उठा लिया बालमा जी।

कहीं बाल विवाह तो कहीं वृद्ध विवाह की त्रासदी दिखती है। यह बदनामी का कारण बनता है। यथा, 'पइसा के लालच में पड़ि के बुढ़ऊ से सादी रचाइल रे, सादी न कइले इ त मोर बरबादी भइल रे।' इसी प्रकार अनमेलपन में गोरी बेटी काला वर देखकर बिफरती है -'रउरा चुकलीं ए बाबा हमरी बेरिया, हमरा करियवा बर आवे हो।' तब उसे उत्तर मिलता है कि भगवान कृष्ण भी तो साँवले ही थे -'साँवर साँवर जनि कहु बेटी, साँवर कृष्ण कन्हाई हो।' राम, कृष्ण और शिव देव तो हैं ही, इसलिए उनकी उपासना होती है; किंतु संस्कार गीतों में वे दुल्हा के रूप में स्मरित होते हैं -'अइसन तपसिया के गउरा न बिआहब, चाहे गउरा रहिहैं कुमारि हे।' शिव फक्कड़ माने जाते हैं, औघड़दानी हैं -'अनका ला दानी भोला, अपने भिखारी हो' के कारण कोई घर उनके जैसा वर नहीं चाहता। संस्कार गीतों से यह संदेश भी मिलता है कि जैसा भी है, पति तो पति होता है, वह भगवान से कम नहीं होता -

निम्मन खोजली बेटी निमन बिआहली, जाने बेटी कर्म तोहार हो।
तोहरो जुगत बेटी वर नहीं मिलऽ, मिललऽ तपसी भीखार हे।
तोहरा लेके आहो बाबा तपसी भीखार, हमरा लेके सीरी भगवान हे।

भाग्य का खेल बड़ा निराला होता है। एक नाबालिग लड़की को एक जोगी छल से फँसा लेता है, तो वह भाई को संदेश भेजती है। भाई आता है तो वह पलट जाती है कि उसके भाग्य में जो बदा था, वह हो गया, यही उसकी नियति थी -'तोहरा के लिखल भैया बाबा के संपतिया, हमरा के जोगिया भिखारी हे।' पहले तो ऐसी परंपरा रही है कि स्त्री-पुरुष को जिस किसी से ब्याह दिया जाता था, वे उसे पूरी जिंदगी निभाते थे, लेकिन अनमेल विवाह तो अनमेल है ही, वह हर किसी को खटकता है। भोजपुरी में कहा जाता है कि 'बूढ़वन के विवाह में जवकन के खुसी।' जवान खुश होते हैं कि बूढ़ा व्यक्ति तो पत्नी की काम-वासना को पूर्ण नहीं कर पाएगा, उसे संतुष्ट नहीं कर पाएगा, अतः नवजवानों को मौका मिल सकता है। यह कुछ हद तक वास्तविकता तो है, कटु सच्चाई भी, पर यह गुदगुदी जैसा मजाक ही अधिक है। स्त्री के लिए लज्जा बड़ा आभूषण है, इसलिए उसका घर-घर घूमना अच्छा नहीं माना जाता, उसका ज्यादा खुलकर खिलखिलाना नुकसानदायक है -

'नासै बहू जो खिल-खिल हँसे' और 'नासै सुवासिन जो घर-घर फिरै।' हिमाचल में भी बेटी का घर-घर घूमना, ज्यादा खिलखिलाती बहू और नालायक मर्द अच्छा नहीं माना जाता -'घर-घर हडेंदी धी मरे, चाल कुचाला टट्टू। खिड़-खड़ैदी नूह मरे, मर्द मरे नखट्टू।' इसी प्रकार प्रचलित है कि 'शासन गरम, बनिया नरम, लड़की सरम।' आम की डाली पर कोयल के कूकने, जंगल में मयूर बोलने और नगर में सीता के कुहुकने से बेटी के कुँवारी रहने की सूचना मिलती है -

आमक डाढ़ि चढ़ि कोइली एक बोलै, बिजुबन बोलय मोर हे।
सीता जे कुहुकए जनक नगरिआ, आबे सीता रहली कुमारि हे।।
देब हे पुरहित सोने क जनउआ, झटपट बेद पढ़ाए हे।।
बिआह करिए राम चलु कोबर, सीता लेल अँगुरी धराए हे।।

हरियाणवीं लोकगीत में भी कन्या की बढ़ती उम्र के साथ उसके भावी जीवन साथी के प्रति चिंता व्यक्त होती है -

दादा देस जाँदा परदेस जाइए, म्हारी जोड़ी का वर ढूढ़िए,
हँस खेल हे अपने दादी की पोती, ढूढ़या सै फूल गुलाब का।

पहले हर घर से पुरुषों को परदेस जाना पड़ता था, जहाँ से कमाकर वह अपने घर-परिवार को कुछ नकदी भेजते थे। घर से दूर रहते सालों हो जाते थे, तब संदेश भेजने-पाने का भी कोई पुख्ता इंतजाम नहीं था। स्वाभाविक है कि पति-पत्नी दोनों को एक-दूसरे के वियोग में वेदना झेलनी पड़ती थी। तमाम अभावों में जीना पड़ता था, घर में तिरस्कार और रोटी-कपड़ा के लिए मुहताज होना पड़ता था। उसकी वियोग वेदना का स्वाभाविक प्रस्फुटन लोक साहित्य में हुआ है, 'बहे पूरवइया ए ननदी' में विरहिणी को पुरवैया हवा विरह की आग जलाने वाली लगती है, इसी प्रकार 'बाव बहेला पुरवइया ए सजनी, करसिनी जागेला आगि ए' में उसकी विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति है। 'मोरी बारि उमरिया नइहर तरसे' की तरह की कसक अन्य गीतों में भी है -

लवंग इलाइची के बिरवा लगवलीं। मोरा चाभन वाला बिदेस तरसे।।
कलिया चुनि चुनि सेजिया डसवलीं। मोर सूतन वाला बिदेस तरसे।।

हरियाणा से परदेस जाते पति से फरमाईश की झड़ी देखिए -'मेरी पतली कमर नाड़ा जुब्बेदार ल्याइयो/गल की ल्याइए ओ जंजीर/नजर का तागा ल्याइयो।' तब रोजगार की खोज में अधिकतर लोग बंगाल का रुख करते थे, जिसकी अनुगूँज पूरबी गीतों में है -'पिया मोरे गइले रामा पूरबी बनिजिया, से देके गइले ना एक सुगना खिलौना, कि देके गइले ना।' बंगाल बदनाम था, इसलिए सीधी-सादी औरतों को भय रहता था कि कहीं उसका पति किसी बंगालिन के चक्कर में फँस न जाए, हरियाणवी लोकगीतों में भी इसकी अभिव्यंजना हुई है -

पूरब भी जाइयो तुम तो पश्चिम भी जाइयो जी, पर देस बंगाल ना जाइयो जी,
ए जी म्हारे राजा जी, देस बंगाल की गौरी बुरी है, वे तो चलते मुसाफिर नै मोह ले जी।

कई बार पति के सामने पत्नी जिद्द करती थी कि वह भी साथ चलेगी, साथ रहेगी -

भूख मैं सहबों पियास मैं सहबों, पान डारबि बिसराई।
तेहरे संग पिया जोगिन होइबै, ना संग बाप ना भाई।

सतीत्व सदियों से भारतीय नारी जीवन का चरम आदर्श रहा है। लोकगीतों में सतीत्व की प्रतिष्ठा है, पतिव्रता स्त्री अपने पर आसक्त किसी अन्य व्यक्ति को भाई कहकर जवाब देती है कि उसका पति कुछ भी है, पर वही उसका देवता है -'आसिक के आस छोड़ि देही गोपी भइया,/तुहुँ त धरम केरा भइया हू रे जी।' सतीत्व और पातिव्रर्त्य भारतीय स्त्री का सबसे बड़ा धर्म रहा है, इसलिए वह कहती है -'आगे तोंन, पाछे कूबर, हमरा भतार से तू ही सुधर।' जिस वर से वधू का विवाह हो रहा है, पर अभी संकल्प नहीं हुआ है, उसे वह छूने से वह मना करती है -

जनि छुअ ए दुलहा, जनि छुऽ, अबही कुँवारी।
जब मोर बाबा संकलपिहें, तब होइब हम तोहारी।

ब्रह्मचर्य की तरह सतीत्व को बहुत बड़ा बल माना गया है। सीता की अग्नि परीक्षा भी सतीत्व की ही परीक्षा थी। ऐसे सैकड़ों गीत, कथाएँ और गाथाएँ हैं, जिनमें स्त्रियों को कठोर परीक्षा से गुजरकर पास होते दिखाया गया है। स्त्री अपने मृत पति को साक्षी मानकर कहती है कि यदि मैं पतिव्रता पत्नी हूँ तो मेरे आंचल से आग उत्पन्न हो जाए। तत्काल अग्नि उत्पन्न होती है और वह मृत पति की चिता के साथ जलकर भस्म हो जाती है -

जो रउरा होई सामी सत के बिअहुता,
अंचरा अगिनिया उपजाईं मोरे राम।

अंचरा भभकि उठलअ सतिया भसम भइली।

एक गीत में रानी कहती है कि हे आग! यदि मैं सती हूँ तो मेरी देह न जले -'जहुँ तुहुँ अगिया सत के होइबू रे ना, आग तिल नाहीं जरे मोर देहिया रे ना।' एक अन्य गीत में चन्दा नामक स्त्री के सतीत्व पर उसके सास, ससुर एवं पति संदेह करते हैं। तब वह भाई और पिता को बुलाती है एवं ससुराल के सभी लोगों के सामने कहती है कि ऊँचे-ऊँचे स्थान पर ससुराल के लोग बैठे हुए हैं और मेरे भाई एवं पिता लज्जा के मारे जमीन पर नीचे बैठे हैं -'ऊँचे-ऊँचे बैठे मोर ससुरे के लोगवा रे ना/रामा खालवा बैठे भैया बाबा रे ना।' सतीत्व स्त्री चरित्र की पहचान थी, इसलिए समाज कौमार्य-भंग को लेकर सतर्क रहता था। लड़कों के साथ लड़की का खेलना भी पहले गाँव-देहात में अच्छा नहीं माना जाता था, क्योंकि इससे लैंगिक निकटता बनने की संभावना अधिक रहती थी -'बेटवा में बिअिया गुलेल खेले लेऽ, भर माथे सेनुरा जियान करे लेऽ।' खड़ी बोली, राजस्थानी, हरियाणवी में कहा जाता है कि 'लौंडियों में लौंडा खेलै, माँ बाहन का नाड़ा खोलै।' सब कुद ठीक रहने पर भी स्त्रियों को कई बार दुराचार का सामना करना पड़ता है। भोजपुरी लोकगीत में उल्लिखित है कि मस्ती के दिनों में तो मनचले भी मस्ती करते हैं, इसलिए सचेत रहना ही चाहिए -

तू तो चले लू अकेली, तोरा संग ना सहेली,
गुंडा घेरि लीहैं तोहि के डगरिया में।

स्त्रियाँ भी मनचली होती हैं, उन्हें लोकजीवन में कुटनी कहा जाता है -'आँखि चलै, भहूँ चले, चले पपनी/सात रंग के बात कहे, उहे कुटनी।' वे अपनी चाल-ढाल, वेश-भूषा से पहचान में आ ही जाती हैं। लहँगा, नीले रंग की साड़ी और लाल किनारीदार चोली पहनकर निकलना ऐसा ही कुछ संकेत देता है -

अतरस लहँगा, सबुज रंग साड़ी, चोलिया जरद किनारी।
चोलिया पेन्हेली कुलटा कवन देई, बटिया चलेली अकेली।

हरियाणवी में कहावत है कि 'जिस पर सास मटकनी, उस पर बहुअन का क्या काम।' वस्तुतः कोई भी समय ऐसा नहीं रहा कि जब स्त्री और पुरुष के संबंधों में श्लीलता और मर्यादा का सर्वदा और सर्वथा पालन किया गया हो। सच तो यह है कि स्वयं मर्यादा और श्लीलता इन्हीं संबंधों के बीच अपनी सीमा बनाती रही है, इसका कभी कोई एक रूप नहीं रहा। एक लोकगीत में वर्णित है कि नायिका जाती तो है पानी भरने, लेकिन नायक से मिलने की अंतर्कामना संजोए रखती है -'चांदणी सी रात छिटक रहे तारे, जल चन्द्रावल पाणी/कैसे भर लाऊँ जमना जल नीर।' अधिक शृंगार करके पानी भरने जाने में संकोच भी होता है -'सासड़ पनिया कैसे जाऊँ, रसीले दोऊ नैना।' अतिशयता की अंधता में बदनामी भी उठानी पड़ती है। स्वाभाविक है कि यहाँ भी स्त्री ही ज्यादा बदनाम होती है, पर पुरुष भी पीछे नहीं रहता, जोखिम तो अधिकतर उसे ही उठाना पड़ता है -

तोरे कारन बदनाम रे साँवरिया।
जैसे कचहरी में कलम चलतु है,
वैसे चलब तोरे साथ रे साँवरिया।
जैसे कुँवन में घड़ा डुबतु है,
वैसे डुबब तोरे साथ रे साँवरिया।

जिसके घर में जवान लड़की कुँवारी हो, उसके घरवाले और बड़े-बूढ़े कैसे चैन से सो सकते हैं -

आय हे माय हे पर परोसिन, सुतल बाबा देहो न जगाय हे।
जहि घर आहो बाबा धिया रे कुमारी, सेहो कैसे सुतल निश्चिंत हे।।

लोक जगत में स्त्री-पुरुष के जितने अच्छे-बुरे पहलू हो सकते हैं, उनका प्रतिबिंब लोक साहित्य में झलकता है। स्त्री पुरुष संबंधों का यथार्थ ज्ञान और आदर्शोन्मुखता का प्रतिरूपण भारतीय लोक साहित्य में है, क्योंकि इसके बिना न तो सृष्टि की रचना संभव है और न ही प्रकृति संपूर्ण होती है। जाहिर है कि स्त्री और पुरुष को जोड़ने वाला तत्व प्रेम ही है। लगभग सभी बोलियों के लोक साहित्य में विभिन्न रिश्तों के भीतर के प्रेम और और संयोगात्मक प्रेम के साथ नैतिक-अनैतिक प्रेम का स्वर सुनाई देता है। पति-पत्नी का अपूर्व विश्वास के अतिरिक्त देवर-भाभी, जीजा-साली, आदि का संबंध भी भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। आरंभ में देवर शब्द का अर्थ ही दूसरा पति होता था। परस्पर आकर्षण, मस्खरापन, चुहुलबाजी, छेड़छाड़, हँसी-मजाक आदि होते हैं। इसलिए इन रिश्तों को काफी लोकप्रियता मिली। कई बार 'जैसी ओढ़ी कामली, वैसे ओढ़ा खेस, जैसे कंथा घर रहे तैसे रहे विदेस' के कारण भी ऐसी स्थिति बनती है।

मातृत्व नारी हृदय की सार्थकता है। जिस प्रकार वन में चंदन, मायके में माँ की महत्ता है, उसी प्रकार घर-परिवार व स्त्री का आंचल अपने बालक के बिना बिलकुल भी शोभा नहीं देता -'पाँच गाछ रोपल आम, पाँचे गाछ इमली रे/ललना तइयो न सोभए बगिचवा, एकहिं चनन बिना रे।' निम्न मगही गीत में पुत्र के बिना सब सूना-सूना लगता है -

कोठरिया जे लिपली ओसरा से अउरो देहरिया से ।
ललना, तइओ न चुनरिया मइल भेल, एक रे होरिलबा बिनु ।।

स्त्री का स्त्री से कलह का चित्र भी लोक साहित्य का पूरा विषय है। एक लोकगीत में कौशल्या कहती हैं -

आछा काम न कइलू ए कैकेयी, आछा काम न कइलू।
हमार बसल भवनवा उजरलू ए कैकेयी, आछा काम न कइलू।

दूसरी तरफ श्रवण कुमार का अपने माता-पिता के अद्वितीय लगाव का भी उदाहरण मिलता है -

तलवा झुरइले कमल कुम्हलइले, हंस रोयेला विरह वियोग।
रोवत बाड़ी सरवन के माता, के काँवर ढोइहैं मोर।

स्त्री को लेकर समाज में तरह-तरह की मान्यताएँ विद्यमान रही हैं, एक महिला के लिए उसका पति और पुत्र दोनों ही प्यारा होता है, इसलिए भोजपुरी में कहा जाता है कि 'पुतरो मीठ भतरो मीठ, किरिया केकर खाईं।' यह विकल्पहीनता की स्थिति का अभिव्यंजक है। दूसरी तरफ, स्त्री के प्रति पति का प्यार देखिए कि वह पत्नी को मारने तो जाता है, पर डेहरी को ही ठेठाने लगता है -'मारे गइलन मेंहरी, ठेठावे लगलन डेहरी।' दूसरी ओर पत्नी कहती है कि 'पियवा के चटकन, मोरे लेखे लटकन' यानी पति की चपत मेरे लिए आभूषण है। पति भी कहता है -

माई के मरबों, बहिनी गरिअइबों।
मेहरि के कान्हें चढ़इबो, गोविन्दे गोविन्दे।

लेकिन पितृसत्तात्मकता के प्रकोप के कारण ससुराल की अपेक्षा मायका अनेक बार स्त्री के लिए अधिक अनुकूल लगता है, वह कहती है -'अस मन करे कि नईहर जाईं। छीपा छोड़ि कठउती में खाईं।' मायका उन्मुक्तता और खुलकर लड़ने-माँगने की जगह है, जबकि ससुराल चुपचाप सहते रहने की। यदि बेटी ससुराल से रूठकर आ जाए और माँ प्रसन्न हो जा जाए, तो बेटी का घर कभी नहीं बस सकता -'धी आई न्हसी, मा पई हस्सी, ताँ सैह धी कदो न बस्सी।' यदि देखने वाला पति पारखी नहीं है, तो शृंगार का औचित्य क्या -'कापर करूँ सिंगार, पिया मोर आन्हर।' जब देखने वाला ही अंधा है तो शृंगार का सौंदर्य क्या? लेकिन समाज में दूसरे ढंग की स्त्रियों की भी कमी नहीं रही है, इसलिए कहा जाता है कि 'सुंदर नारि पुरुष बिनु मुरझे, फुहरिन के एहवात।' यानी जो अच्छी महिला है, वह पति के अभाव में मुरझा जाती है, तो वहीं फूहड़ आनंदित रहती है। कुछ के बारे में कहा है कि 'राँड भइली कि साँड भइली' यानी पति के मरने पर ज्यादा उच्छृंखल होकर साँड के समान हो जाती हैं, वहीं कुछ 'आपन भतार देखि रोवे बपुरी, अनकर भतार देखि हँसि बपुरी' की स्थिति में रहती हैं, यानी पति को देखते रोती हैं, लेकिन दूसरे पुरुषों को देखकर प्रफुल्लित हो जाती हैं। त्रिया चरित्र के बारे कहा जाता है कि कि इससे पार पाना बड़े-बड़ेां के वश की बात नहीं होती -'तिरिया, तेल, हमीर हठ/चढ़ै न दूजी बार।' लेकिन क्या सारा दोष स्त्रियों का ही होता है, क्या पुरुष कामुक नहीं होते? वास्तविकता तो यह है कि वे ज्यादा होते हैं। बिहार-उत्तर प्रदेश में तो भसुर की परछाई तक से दूर रहने की नसीहत दी गई है, पर उसी भसुर के लिए हँसी-ठिठोली भी गजब की है, उसकी काम वासना पर टिप्पणी तो देखिए -'लाजे भवहि बोले ली ना/सवादे भसुर छोड़े ले ना।' धीरे-धीरे समय बदलने के साथ समाज में काफी परिवर्तन आया है, आजकल चोर-उचक्के चौधरी और बदमाश औरतें प्रधान बन जाती हैं -'चोर उचक्का चौधरी, मुंडी रँड प्रधान।' यह स्थिति लोकतांत्रिक समाज के लिए काफी खतरनाक है, उसकी सफलता को संदिग्ध बनाती है।